बिहार में प्रचलित टिकुली पेंटिंग एक ऐसी विशिष्ट लोक कला परंपरा है, जिसकी जड़ें भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में गहराई तक समाई हुई हैं। इसका संबंध केवल चित्रकला से ही नहीं, बल्कि भारतीय स्त्री-सौंदर्य, सामाजिक परंपराओं और व्यापारिक इतिहास से भी जुड़ा हुआ है। माना जाता है कि टिकुली कला की प्रेरणा प्राचीन काल से ही मौजूद रही है और इसका इतिहास कुछ विद्वानों के अनुसार बौद्ध काल तक जाता है, हालांकि इसके उद्भव की कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना आज भी कठिन है।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

टिकुली पेंटिंग: परंपरा से आधुनिक कला तक की रचनात्मक यात्रा

बिंदी या टिकुली लगाने की परंपरा सदियों पुरानी

भारतीय संस्कृति में सुहागन स्त्रियों द्वारा ललाट पर बिंदी या टिकुली लगाने की परंपरा सदियों पुरानी रही है। यह केवल सौंदर्य वृद्धि का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक और धार्मिक पहचान का भी प्रतीक रही है। पुरातत्वविदों को उत्खनन में प्राप्त मौर्यकालीन नारी प्रतिमाओं के ललाट पर बिंदी के अंकन मिलते हैं, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह परंपरा कम से कम मौर्य काल से चली आ रही है। समय के साथ यह परंपरा समाज में निरंतर बनी रही और धीरे-धीरे इससे संबंधित शिल्प और सजावटी वस्तुओं का भी विकास हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का हिस्सा

मध्यकालीन भारत में बिहार की राजधानी पटना एक महत्वपूर्ण व्यापारिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में उभर चुकी थी। प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री और इतिहासकार जीन-बैप्टिस्ट टैवर्नियर ने अपने यात्रा विवरणों में उल्लेख किया है कि लगभग 1700 ईसवी तक पटना पूरे बंगाल क्षेत्र का एक प्रमुख महानगर बन गया था। उस समय पुर्तगाली और तिब्बती व्यापारी यहां नियमित रूप से व्यापार के लिए आते थे और स्थानीय उत्पादों जैसे मूंग, कछुए के खोल से बने आभूषण, चूड़ियां तथा सोने-चांदी से सजी टिकुलियां खरीदकर अपने देशों में ले जाते थे। यह तथ्य बताता है कि टिकुली केवल घरेलू उपयोग तक सीमित नहीं रही, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का भी हिस्सा बन चुकी थी। प्रारंभिक दौर में टिकुली मुख्यतः कांच या धातु पर बनाई जाती थी और उस पर सोने की वर्क या रंगीन सजावट की जाती थी, लेकिन आधुनिक टिकुली पेंटिंग का स्वरूप 20 वीं सदी के मध्य में विकसित हुआ। प्रसिद्ध कलाकार और शिल्प पुनरुद्धारक उपेंद्र महारथी ने इस कला को नया जीवन देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1960 के दशक में जापान यात्रा के दौरान उन्होंने वहां लकड़ी के पैनलों पर एनामेल पेंट से बिंदुओं को जोड़कर बनाए जा रहे चित्रों को देखा। इस तकनीक से प्रेरित होकर, उन्होंने पटना के कांच पर चित्रकारी करने वाले कारीगरों रामफल गुप्ता, लाल बाबू गुप्ता तथा अन्य शिल्पियों को इस शैली को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

एक नई पहचान

इस पहल के परिणामस्वरूप टिकुली पेंटिंग ने एक नई पहचान प्राप्त की। इसमें पौराणिक कथाओं, लोकजीवन, नृत्य, प्रकृति और सामाजिक विषयों को आकर्षक रंगों तथा बारीक रेखांकन के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा। एनामेल रंगों के प्रयोग ने इन चित्रों को टिकाऊ, चमकदार और बाजार-उपयुक्त बनाया। महारथी जी के निधन के बाद इस परंपरा को आगे बढ़ाने और पुनर्जीवित करने का महत्वपूर्ण दायित्व कलाकार अशोक कुमार विश्वास ने निभाया। उन्होंने न केवल पारंपरिक विषयों को संरक्षित किया, बल्कि आधुनिक डिजाइन और बाजार की मांग के अनुरूप नए प्रयोग भी किए। उनके प्रयासों से टिकुली पेंटिंग राज्य की सीमाओं से बाहर निकलकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक पहुंची। आज अनेक प्रशिक्षण कार्यक्रमों और शिल्प मेलों के माध्यम से नई पीढ़ी के कलाकार इस कला में दक्ष हो रहे हैं।

वर्तमान संदर्भ में टिकुली पेंटिंग केवल सजावटी वस्तु या स्मृति-चिह्न भर नहीं रह गई है, बल्कि यह बिहार की सांस्कृतिक पहचान और आत्मनिर्भर शिल्प अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी है। ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म, डिजाइन नवाचार और सरकारी प्रोत्साहन योजनाओं ने इसके प्रसार को और गति दी है। इस प्रकार, सुहागिनों के ललाट की शोभा रही टिकुली आज एक सशक्त कला शैली के रूप में विकसित होकर परंपरा और आधुनिकता के सुंदर समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत कर रही है।

अनोखी परंपरा

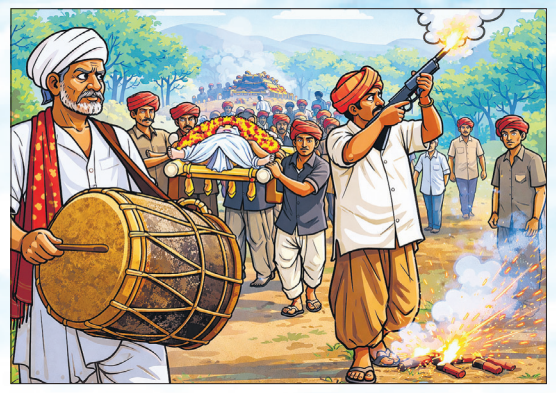

थापों में बसी विदाई: आदिवासी जीवन का सत्य

राजस्थान के दक्षिणी हिस्से में स्थित बांसवाड़ा का आदिवासी जीवन अपनी विशिष्ट परंपराओं और गहरी लोकमान्यताओं के लिए जाना जाता है। यहां जीवन के हर पड़ाव जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कारों की एक अलग ही छवि देखने को मिलती है। विशेष रूप से मृत्यु से जुड़े रीति-रिवाज इस समाज की सांस्कृतिक पहचान को बेहद अनोखे ढंग से सामने लाते हैं। जब किसी व्यक्ति का निधन होता है, तो शोक की सूचना देने का तरीका आधुनिक साधनों से बिल्कुल अलग और पारंपरिक होता है। ढोली समाज का एक सदस्य शोकग्रस्त परिवार के घर पहुंचकर ढोल बजाता है। यह ढोल साधारण नहीं होता, बल्कि इसकी थाप विशेष होती है, जिसे स्थानीय लोग 'मुर्दा ढोल' के नाम से पहचानते हैं। इसकी गूंज पूरे गांव में फैलते ही लोगों को समझ आ जाता है कि किसी के घर शोक हुआ है। इस तरह बिना किसी शब्द के ही सूचना पूरे क्षेत्र में पहुंच जाती है।

ढोल की आवाज केवल सूचना का माध्यम ही नहीं, बल्कि सामूहिक सहभागिता का आह्वान भी होती है। जहां तक इसकी ध्वनि सुनाई देती है, वहां तक के ग्रामीण स्वतः ही शवयात्रा में शामिल होने के लिए निकल पड़ते हैं। ढोल बजाने वाला व्यक्ति अर्थी के साथ श्मशान घाट तक आगे-आगे चलता है, मानो वह पूरे गांव को अंतिम विदाई के इस मार्ग में साथ ले जा रहा हो।

अंतिम संस्कार से पहले एक और विशिष्ट परंपरा निभाई जाती है-ढोल की थाप के साथ पटाखे फोड़ना या हवा में बंदूक चलाना। यह दृश्य शोक के बीच भी एक सम्मानजनक विदाई का प्रतीक बन जाता है। आदिवासी समाज में यह मान्यता रही है कि हर व्यक्ति, चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो, अपने जीवन में एक सिपाही की तरह संघर्ष करता है। इसलिए उसकी मृत्यु पर बंदूक की सलामी देकर उसे श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। इन परंपराओं की जड़ें उस समय से जुड़ी हैं, जब संचार के आधुनिक साधन उपलब्ध नहीं थे। तब ढोल और अन्य वाद्ययंत्र ही सूचना के प्रमुख माध्यम हुआ करते थे। बांसवाड़ा जैसे क्षेत्रों में, जहां बस्तियां दूर-दूर बसी हैं, वहां यह तरीका आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। भले ही नई पीढ़ी इन परंपराओं के मूल कारणों को पूरी तरह न समझती हो, लेकिन वर्षों से इन्हें देख-सुनकर उन्होंने इन्हें अपने जीवन का हिस्सा बना लिया है। यही कारण है कि बांसवाड़ा की यह आज भी जीवंत है और समाज की सामूहिक चेतना को एक सूत्र में बांधे हुए है।

आर्ट गैलरी

महिषासुर : एक कालजयी कृति

महिषासुर, तैयब मेहता की सबसे चर्चित और ऐतिहासिक कृतियों में से एक है, जिसने भारतीय आधुनिक कला को वैश्विक पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह पेंटिंग पारंपरिक पौराणिक चित्रणों से अलग एक नई दृष्टि प्रस्तुत करती है। इस चित्र में महिषासुर और देवी दुर्गा को एक अनोखे आलिंगन में दर्शाया गया है। सामान्यतः जहां देवी दुर्गा को महिषासुर का वध करते हुए दिखाया जाता है, वहीं तैयब मेहता ने इस दृश्य को संघर्ष और सह-अस्तित्व के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह आलिंगन केवल शारीरिक नहीं, बल्कि गहरे मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक द्वंद्व को दर्शाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अच्छाई और बुराई के बीच की सीमाएं धुंधली हो गई हों और दोनों एक-दूसरे में समाहित हो रहे हों। यह पेंटिंग केवल एक पौराणिक कथा का चित्रण नहीं है, बल्कि मानव मन के आंतरिक संघर्षों का प्रतीक है। इसमें हिंसा, करुणा, पीड़ा और सह-अस्तित्व की भावनाएं एक साथ दिखाई देती हैं। यही कारण है कि यह कृति आधुनिक समाज के नैतिक द्वंद्व और जटिलताओं को भी गहराई से प्रतिबिंबित करती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी 'महिषासुर' ने भारतीय कला को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाया। यह पहली भारतीय पेंटिंग बनी, जिसने अंतर्राष्ट्रीय नीलामी में एक मिलियन डॉलर से अधिक की कीमत प्राप्त की। इस उपलब्धि ने न केवल तैयब मेहता को वैश्विक ख्याति दिलाई, बल्कि भारतीय समकालीन कला बाजार के महत्व को भी स्थापित किया। इस प्रकार, 'महिषासुर' भारतीय कला इतिहास में एक मील का पत्थर बनकर उभरी है।

तैयब मेहता के बारे में

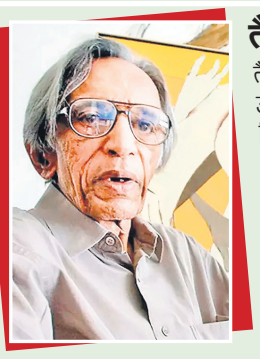

तैयब मेहता भारतीय आधुनिक कला के उन अग्रणी कलाकारों में गिने जाते हैं, जिन्होंने भारतीय चित्रकला को वैश्विक पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उत्तर-औपनिवेशिक भारत की उभरती कला चेतना में उनका योगदान अत्यंत विशिष्ट रहा। उनकी कृतियां केवल सौंदर्यबोध तक सीमित नहीं हैं, बल्कि गहरे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्नों को भी उजागर करती हैं। तैयब मेहता का संबंध प्रसिद्ध बॉम्बे प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप से रहा, जिसने भारतीय कला को पारंपरिक सीमाओं से बाहर निकालकर आधुनिक दृष्टिकोण दिया। इस समूह में एम एफ हुसैन, एस एच रजा और एफ एन सूजा जैसे महान कलाकार शामिल थे। इनका उद्देश्य भारतीय कला को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित करना था, जिसमें तैयब मेहता का योगदान अत्यंत प्रभावशाली रहा। उनकी कला की सबसे विशिष्ट पहचान 'Diagonal Series' यानी विकर्ण श्रृंखला है। यह शैली संयोगवश विकसित हुई, लेकिन आगे चलकर उनकी हस्ताक्षर शैली बन गई। उनकी पेंटिंग्स में तिरछी रेखाएं जीवन के तनाव, संघर्ष और विभाजन को दर्शाती हैं। आकृतियों का खंडित और दबावपूर्ण स्वरूप आधुनिक जीवन की जटिलताओं और मानव मन के आंतरिक द्वंद्व को गहराई से अभिव्यक्त करता है।

होलकी माई: लोक-आस्था और नारी शक्ति का अनूठा संगम

लोकायन

ग्रामीण भारत में होली का उत्सव केवल रंगों और उल्लास का पर्व नहीं, बल्कि लोकपरंपराओं और आस्था की जीवंत विरासत का भी प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चंदौली जिले में प्रचलित 'होलकी माई' की परंपरा इसी सांस्कृतिक विविधता का एक अनूठा उदाहरण है, जिसे विशेष रूप से महिलाएं पूरे विधि-विधान और श्रद्धा के साथ निभाती हैं।

यह परंपरा पीढ़ियों से चली आ रही है और आज भी गांवों में उतनी ही आस्था के साथ जीवित है। जहां एक ओर पुरुष होलिका दहन करते हैं, वहीं महिलाओं की अपनी अलग 'होलकी' होती है। इसमें गोइठा (उपले) और लकड़ियों का उपयोग कर प्रतीकात्मक रूप से 'होलकी माई' तैयार की जाती है। यह केवल एक अनुष्ठान नहीं, बल्कि महिलाओं की सामूहिक आस्था और सहभागिता का सशक्त रूप है।

होलिका दहन के बाद महिलाएं इस 'होलकी माई' को गांव के तालाब या जलाशय में प्रवाहित करती हैं। यह क्रिया प्रकृति और पंचतत्वों के प्रति सम्मान की भावना को भी दर्शाती है। अगले दिन प्रातः महिलाएं तालाब के किनारे एकत्र होकर रोटी चढ़ाती हैं और विधिवत पूजा-अर्चना करती हैं। इस पूरी प्रक्रिया में एक गहरा सांस्कृतिक भाव निहित है, जो जीवन, प्रकृति और परंपरा के बीच संतुलन को दर्शाता है।

इस परंपरा का एक विशेष पहलू यह भी है कि इसका संबंध नवरात्र से जुड़ता है। होली के लगभग एक माह बाद, नवरात्र के दौरान 'होलकी माई' को पुनः स्थापित किया जाता है और तीन दिनों के बाद फिर से जल में विसर्जित किया जाता है। इस दौरान भी पूजा और रोटी चढ़ाने की परंपरा निभाई जाती है, जो इस अनुष्ठान को एक विस्तृत सांस्कृतिक चक्र का हिस्सा बनाती है।

स्थानीय लोगों के अनुसार, यह प्रथा उनके पूर्वजों के समय से चली आ रही है। समय के साथ भले ही जीवनशैली में बदलाव आया हो, लेकिन इस परंपरा की आत्मा आज भी वैसी ही बनी हुई है। महिलाएं इसे केवल एक धार्मिक कर्मकांड के रूप में नहीं, बल्कि अपनी पहचान, एकजुटता और सांस्कृतिक विरासत के रूप में देखती हैं। दरअसल, 'होलकी माई' की यह परंपरा ग्रामीण जीवन की उस गहराई को उजागर करती है, जहां उत्सव केवल आनंद का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों और परंपराओं को सहेजने का जरिया भी होता है। बदलते दौर में भी ऐसी परंपराएं गांवों की सांस्कृतिक जड़ों को मजबूती से थामे हुए हैं और आने वाली पीढ़ियों तक अपनी पहचान बनाए रखे हुए हैं।

रंगमंच की साझा विरासत

हर साल 27 मार्च को विश्व रंगमंच दिवस मनाया जाता है। यह दिन उस कला का है, जो बिना किसी पर्दे के दर्शकों से आमने-सामने बात करती है। उत्तराखंड के नैनीताल में रहने वाले रंगकर्मी जहूर आलम को इस कला को आगे बढ़ाने के लिए साल 2023 में 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। उनका काम दिखाता है कि रंगमंच सिर्फ अभिनय तक सीमित नहीं है, बल्कि समाज, संस्कृति और लोगों को जोड़ने का एक सशक्त माध्यम है।

हिमांशु जोशी
लेखक

एक शुरुआत, जो धीरे-धीरे आंदोलन बन गई

युगमंच के बारे में बात करते हुए जहूर आलम बताते हैं कि साल 1976 में 'युगमंच' की शुरुआत हुई। युगमंच को शुरू करने का मकसद यह था कि पहाड़ की लोक परंपराएं, गीत-संगीत और कहानियां भी मंच तक पहुंचें। 'अंधा युग' के साथ इसकी शुरुआत हुई और उसी से 'युगमंच' नाम निकला। खास बात यह रही कि नाटक को उसी रूप में नहीं किया गया, बल्कि उसमें कुमाऊं की लोक शैली, संगीत और परंपराओं को भी जोड़ा गया। इससे नाटक लोगों के और करीब आ गए और युगमंच की एक अलग पहचान बनी।

जब मंच पर दिखने लगी अपनी ही दुनिया

जहूर आलम की हमेशा यह कोशिश रही कि युगमंच के नाटक लोगों के अपने अनुभवों से जुड़े हों। कुमाऊं की लोक गाथाएं, पहाड़ी संगीत और यहां के किस्से नाटकों का हिस्सा बने। उन्होंने आधुनिक और लोक रंगमंच को साथ मिलाकर काम किया, जिससे दर्शकों को मंच पर अपनी ही जिंदगी दिखाई देने लगी। जहूर कहते हैं कि होली में हुड़दंग बढ़ने लगा था, इसके बदलते स्वरूप को देखकर युगमंच ने पहल करते हुए बैठ और खड़ी होली को मंच पर लाने का प्रयास किया। उत्तराखंड के अलग-अलग स्थानों से कलाकार बुलाए गए और महिलाओं को भी मंच पर आने के लिए तैयार किया गया। नई पीढ़ी को सिखाने के लिए कार्यशालाएं की गईं। इसका असर यह हुआ कि नैनीताल की होली फिर से एक सलीकेदार सांस्कृतिक उत्सव की तरह सामने आई, जिसमें आज भी परंपरा और अनुशासन दोनों साथ दिखते हैं।

जहां लोग मिलते हैं, नहीं दिखते भेद

जहूर आलम का काम यह दिखाता है कि कला लोगों को जोड़ती है। एक मुस्लिम परिवार से होने के बावजूद उन्होंने होली जैसे आयोजन को पूरी ईमानदारी से आगे बढ़ाया। उनके लिए यह त्योहार साथ मिलकर रहने का सबसे उम्दा जरिया है। इतिहासकार शेखर पाठक भी कहते हैं कि जहूर ने उस साझा विरासत को आगे बढ़ाया है, जिसमें अलग-अलग धर्म और समुदाय के लोग साथ मिलकर अपनी संस्कृति को जीते हैं और आज के समय में धीरे-धीरे यह दुर्लभ होती जा रही है। पंचायत फेम अभिनेत्री सुनीता रजवार भी जहूर आलम और युगमंच को इसी नजर से देखती हैं। वह कहती हैं कि जहूर दा युगमंच में नाटकों के स्तंभ हैं और उन्होंने नैनीताल में रंगमंच की परंपरा को सहेज कर रखा है। उनके लिए युगमंच सिर्फ एक संस्था नहीं, बल्कि परिवार की तरह है, जहां उन्होंने हमेशा दूसरों के लिए रास्ते बनाए। सुनीता कहती हैं कि वह खुद भी उसी रास्ते से आगे बढ़ने वालों में से एक हैं। युगमंच के साथ पच्चीस साल से ज्यादा के अपने सफर को याद करते हुए नवीन बेगाना बताते हैं कि उनके पिता भी युगमंच से जुड़े थे। किशोरावस्था में वह अक्सर लड़ाई-झगड़ों में उलझे रहते थे। ऐसे समय में जहूर आलम ने उन पर भरोसा जताया और उन्हें युगमंच से जोड़ा। यही वह मोड़ था, जहां से उनकी जिंदगी ने नई दिशा ली। आगे चलकर नवीन ने ओपन यूनिवर्सिटी से संगीत की पढ़ाई की, शिक्षक बने और अपनी एक अलग पहचान बनाई। वह कहते हैं कि जहूर दा और युगमंच ने न सिर्फ नैनीताल का नाम आगे बढ़ाया, बल्कि थिएटर को जीवित और सक्रिय बनाए रखने में भी अहम भूमिका निभाई है। जहूर कहते हैं कि कई मौके ऐसे आए जब लोग बड़े शहरों की ओर गए, लेकिन उन्होंने यहीं रहकर काम करना चुना। उन्होंने खुद अभिनय और निर्देशन किया और नई पीढ़ी को तैयार किया। युगमंच से जुड़े कई कलाकार राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और अन्य संस्थानों तक पहुंचे। कुछ ने मुंबई में अपनी अलग पहचान भी बनाई।

थिएटर के लिए जरूरी है सहारा

जहूर आलम यह भी मानते हैं कि रंगमंच को पेशे के रूप में मजबूत करने की जरूरत है। उन्होंने कहा कि कलाकारों को सम्मान के साथ काम करने के लिए आर्थिक और सामाजिक सहयोग मिलना चाहिए। तभी यह कला व मजबूत हो सकती है और नई पीढ़ी भी इसे अपनाएगी।

इंतखाब की दुकान, जहां रंगमंच सांस लेता था

जहूर आलम के लिए नैनीताल और रंगमंच क्या हैं, इसे स्मिता कर्नाटक की किताब 'डीएसबी के गलियारों से' के शब्दों में बेहतर समझा जा सकता है। वह लिखती हैं कि पहली बार वह नैनीताल के सांस्कृतिक अड्डे 'इंतखाब' में जहूर दा से मिलीं, जहां कपड़े की दुकान होने के बावजूद माहौल किसी साहित्यिक बैठक जैसा होता था। परिवार की सलाह पर उन्होंने कपड़े की दुकान जरूर खोली, लेकिन मन उनका रंगमंच में ही लगा रहा। काउंटर पर कपड़ा नापते हुए भी वह उसी दुनिया में रहते थे। 'इंतखाब' में दिनभर ग्राहकों से ज्यादा कवियों, लेखकों और कलाकारों का जमावड़ा लगा रहता। चाय और कॉफी के दौर चलते और उनके साथ गंभीर बातचीत भी। यह दुकान धीरे-धीरे एक सांस्कृतिक अड्डा बन गई, जहां से कई विचार और कलाकार आगे बढ़े। यही वह जगह थी, जहां से युगमंच से जुड़े कई कलाकार आगे निकले। निर्मल पांडे, ललित तिवारी, सुनीता अवस्थी, सुदर्शन जुयाल और इदरीस मलिक जैसे नाम इसी जमीन से जुड़े रहे। छोटे शहर के इस माहौल ने बड़े मंच तक पहुंचने वाले कलाकारों को रास्ता दिया।

जहूर आलम के लिए नाटक सिर्फ मनोरंजन नहीं है। उनका कहना है कि रंगमंच में जीवन के लगभग हर पहलू की झलक मिलती है, इसलिए यह लोगों तक सबसे असरदार तरीके से बात पहुंचाता है। उनके नाटकों में अक्सर ऐसे विषय होते हैं, जो समाज से जुड़े होते हैं और दर्शकों को सोचने पर मजबूर करते हैं। युगमंच ने नुक्कड़ नाटकों के जरिए भी लोगों के बीच जाकर सामाजिक मुद्दों पर संवाद किया और रंगमंच को सीधे समाज से जोड़ा।